Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XV, Issue No. 5, July-2018, ISSN 2230-7540

कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा-शैली

Dr. Sheena Prabhakaran*

Assistant Professor, Department of Hindi, St. Josephs College, Devagiri (Autonomous), Kozhikode, Kerala

सार – *प्रत्येक युग का साहित्य अपने पिछले युग से कथ्य एवं भाषा के स्तर पर कुछ नयापन लिए हुए आता है। हम सब साहित्य के विद्यार्थी लगभग रूढ़ हो चुकी इस उक्ति को बार-बार दोहराते रहते हैं कि एक नया कथ्य अपने लिए एक नयी भाषा भी साथ लेकर आता है और इन्हीं भाषा एवं कथ्य के आधार पर हम साहित्य में काल विभाजन करते हैं। जाहिर सी बात है कि बिना भाषा के हमारा चिंतन, दर्शन एवं देश-समाज की हमारी समझ एक निजी भाषा बनकर ही रह जायेगी। उनकी कोई सामाजिक भूमिका बिना भाषा के संभव नहीं है। भाषा एक लोक स्वीकृत रूप है। अतः भाषा में रचनाकार को अपने रचनात्मक प्रयोजन को पूरा करने के लिए विचलन भी करना है और उसके सामाजिक रूप को अजनबी मुहावरा भी नहीं प्रदान करना है। इसी कशमकश में रचनाकार सर्जनात्मक भाषा को उपलब्ध करता है। विष्णु प्रभाकर कहते हैं- "किसी ने अभी तक अविष्कार नहीं किया उस भाषा को जो भावों को सही अभिव्यक्ति और अर्थ को सही शब्द दे सके। सूक्ष्म को स्थूल में और निर्विकार को साकार में रूपान्तरित करना प्राणों को मथना है।'[1] भाषा के साथ बहुत अधिक स्वैच्छाचार रचना एवं भाषा दोनों के लिए खतरा है, किन्तु रचनाकार निरंकुश-प्रवृत्ति का होता है, क्योंकि उसे किसी बंधी लीक पर चलना स्वीकार्य नहीं होता।*

----------X----------

सर्जनात्मक भाषा के लिए बहुत व्यवहृत शब्द काव्य-भाषा है। यहाँ काव्य से तात्पर्य अभिधा प्रधान गद्य-भाषा एवं सामान्य भाषा से है। सर्जनात्मक भाषा का पार्थक्य करने के लिए काव्य-भाषा जैसे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। शैली का कथन है-"कवियों और गद्यकारों में भेदभाव एक भद्दी भूल है।"[2] क्योंकि गद्यकार और कवि दोनों ही भाषा के संदर्भ में सर्जनात्मक भाषा की साधना समान रूप से करते है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र की मान्यता है कि काव्य-भाषा, सामान्य-भाषा से उछूत है और सामान्य-भाषा जो कल आने वाली है वह आज भी समर्थ काव्य-भाषा में मौजूद है। भारतेन्दुयुगीन भाषा का कोई मानक रूप नहीं था जबकि आज क्रमशः भाषा ने एक मानक रूप पा लिया है और वह सम्पर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

खड़ी बोली हिन्दी के रचनाकार की एक बहुत बड़ी नियति यह है कि खड़ी बोली को मानक स्तर तय होने से पूर्व ही विश्व प्रतियोगिता में उतरना पड़ा। इस पीड़ा को धर्मवीर भारती इस तरह बयां करते हैं-"रचना के क्षेत्र में एक-एक शब्द शताब्दियों के प्रयोग के बाद एक विशिष्ट अर्थ-गरिमा पाता है। नयी उपभाषा में ऐसी अर्थ-गरिमा ले आना कि वह सूर-तुलसी के उत्तराधिकार को वहन कर सके और दूसरी ओर संसार के आधुनिक लेखक के समकक्षता से बात कह सके एक खास बड़ा काम था।"[3] रचनाकार दिनोंदिन प्रयोजन से परे एक बड़े उद्देश्य से उत्प्रेरित होकर भाषा में इस प्रकार का परिवर्तन करता है कि वह ऐन्द्रिक हो उठती है। रचना में प्रयुक्त शब्द में देखने, संूघने, स्पर्श ओर स्वाद की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

वर्तमान गद्य-युग के प्रयोजनों से जुड़ी खड़ी बोली को सर्जनात्मक प्रयोग के लिए सप्रयास ढालने के क्रम में भारतेन्दुयुगीन निबंधकारों ने सर्वप्रथम प्रयास किया। यह बात सिद्ध है कि जनता की तत्कालीन प्रवृत्ति और उसके संकटों का ब्यौरा युगीन साहित्य के अलावा उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जो काम और लोग कर सकते थे, उसे भी ये लेखक करते हैं। डॉ. कमला प्रसाद ने ठीक ही लक्षित किया है कि "वे अपने युग के महाप्रश्नों से अपनी जिम्मेदारी तय करते हैं। वे लोक मानस के चित्रकार हैं। भाषा की चेतना को पहली बार राष्ट्रीय चेतना से जोड़ते हैं। राष्ट्रीय चेतना जातीय चेतना से मिलकर चलती है। यह हिन्दी का नए चाल में ढलना कहलाता है। भारतेन्दु पहले भाषा-विचारक हैं, जो भाषा की ढलान को रसोईघर में या पारिवारिक जीवन में देखते हैं। कहते हैं, जो भाषा अपनी आत्मीय समस्याओं से घुली-मिली हो, वही साहित्य में आने लायक है।"[4] भारतेन्दु का भाषा आन्दोलन एक तरह से स्वदेशी जाति का संगठनिक प्रयत्न भी है।

ललित निबंध की स्वाधीन चिंतन की उपज है। उसमें सारा कौशल बतकही का है और ललित निबंध में सारा दारोमदार भाषा पर है। लेखक अपना व्यक्तित्व हाथ में लिए चलता है।

www.ignited.in

कविता में लय का सहारा है, जो आवेग को थामता है और कविता को गति देता है। कहानी में घटना का आश्रय होता है पर ललित निबंध में मात्र अपनी बात यानी भाषा का ही आश्रय होता है। इसलिए ललित निबंध का भाषा एवं शैली से सरोकार कुछ अधिक है। भाषण कला या वक्तृत्व कला इसका मूल तत्व होता है। संरचना की दृष्टि से निबंध में एक बिन्दु होता है, जिसे साक्ष्य तथा युक्तियों से पूरा किया जाता है। लेखक पाठक से सीधे अपील करता है, उसे अपने से सहमत कराता है। निबंध के माध्यम से लेखक का चरित्र भी पाठक के सामने आता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की दृष्टि में पाठक को क्या करना चाहिए?

कुबेरनाथ राय अपना भाषिक आदर्श तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को मानते हैं। उनका मानना है कि "मुझे अपनी भाषिक संस्कृति का आदर्श तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से मिला है। तुलसी की भाषा अवधी होते हुए भी शुद्ध अवधी नहीं है। मेरा तात्पर्य उस तद्भव-प्रधान अवधी से है जिसे जायसी ने प्रस्तुत किया है। तुलसीदास तद्भव के आवरण में भाषा की तत्सम संस्कृति से जुड़े हैं। उनकी अवधी अखिल भारतीय अवधी है जिसे उन्होंने एक ओर संस्कृत की तत्समता से जोड़ा है, तो दूसरी ओर हिन्दी प्रान्तों की विभाषाओं से। फलतः वे सारे देश में गुजरात से लेकर मिथिला-बंगाल तक व्यापक हो गये। दूसरी बात यह कि उन्होंने कबीर का भाषासूत्र "संस्कृत 'कबिरा' कूपजल, भाषा बहता नीर" स्वीकार नहीं किया। कबीर का यह सूत्र सही होते हुए भी अर्ध-सत्य है। 'भाषा बहता नीर' तो ठीक है, सही बात है। परन्तु संस्कृत की भूमिका हमारे जीवन में तब और अब भी मात्र कूप की नहीं है। संस्कृति हिमालय का हिमवाह है और आकाश का मेघ। यह जब पिघलती है और बरसती है तभी भाषा की सरिता में नीर आता है।"[5] कुबेरनाथ राय के लिए संस्कृत कूपजल नहीं है बल्कि भाषा बहता नीर के लिए वह आदि स्रोत की तरह है।

कुबेरनाथ राय अपने ऊपर लग रहे भाषायी दुरुहता के आरोप से अनभिज्ञ नहीं थे। तभी तो वे 'मराल' निबंध संग्रह में इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि "मेरी भाषा के बारे में लोगों की आपत्तियाँ हैं कि मैं ऐसे शब्दों का यदा-कदा प्रयोग करता हूँ जो आम आदमी या आम शिक्षित जन की जानकारी के बाहर के होते हैं। मेरा निवेदन है कि ऐसे शब्द मेरे पूरे लेखन में, दो सौ से अधिक निबंधों में दो-तीन दर्जन से ज्यादा नहीं हैं। ऐसा जहाँ-जहाँ मैंने किया है, सचेत और सकारण ढंग से किया है। उदाहरण के लिए 'प्रजागर पर्व में साहित्यकार' में 'प्रजागर' शब्द को ही लें। यह महाभारत का शब्द है। युद्ध पूर्व रात्रि या व्रत की रात्रि या ऐसी मनःस्थिति के लिए 'प्रजागर' शब्द आया है। मुझे वर्तमान संदर्भ में अर्थगत संवेदनाओं की दृष्टि से यह शब्द मूल्यवान लगा और मैंने 'जागरण पर्व' न लिखकर 'प्रजागर-पर्व' लिखा। दिक्कत हमारे लेखन में नहीं है। दिक्कत है नवशिक्षित की भाषागत दरिद्रता के भीतर। मेरा उद्देश्य रहा है पाठक के चित्त को एक परिमार्जित भव्यता देना और साथ ही उसकी चितऋदि का विस्तार करना। निबंध की यह प्रमुख शर्त ही है। अन्यथा निबंध क्यों पढ़ा जायेगा? 'आम आदमी' की भाषा की लक्ष्मण रेखा के भीतर रहकर यह संभव नहीं। शब्द 'प्रयोगेण अभिज्वलति' का सिद्धान्त हर काल में सही रहा है। भाषा की ऋदि ही मेरा उद्देश्य है।"[6] श्री राय का यह मानना है कि "निबंधकार फिल्म निर्माता नहीं है। उसका कर्तव्य है कि फिल्म निर्माता से भिन्न होकर सोचें। वह तो अन्तिम विश्लेषण में अध्यापक है। उसका काम है मन-बुद्धि के आयामों को विस्तार देना शब्दों और सन्दर्भों के माध्यम से। समय की मांग है कि हिन्दी के पाठक और अध्यापक हिन्दी के 'महाकोश' से जो धीरे-धीरे विकसित हो रहा है, परिचित होने की चेष्टा करें। हिन्दी का यह महाकोश (1) मूलतः संस्कृत की प्राचीन ऋदि और (2) लोकभाषाओं और प्रान्तीय भाषाओं के शब्द और मुहावरों के प्रवेश से संभव है।"[7]

समकालीन ललित निबंधकारों ने अपने समय की चुनौतियों को इतना बखूबी समझा और अंकित किया है कि उसे पत्थर को बूत बनाने वाले कौशल से काम लेने वाले चमत्कार प्रदर्शनप्रिय भाव से काम लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी, परन्तु भाषा को निरन्तर साधक की तरह सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ी है। शैली विज्ञान की बहु-प्रचलित चयन, विचलन एवं बहुधर्मिता के दृष्टिगत प्रयत्नों का स्थान पर प्रयोग करते हुए इन निबंधकारों ने ललित-निबंध के भाषयी आदर्श को प्राप्त किया है। ललित निबंधकार अपने विशिष्ट कथ्य को समाज तक पहुंचाना चाहता है और वह जानता है मेरा पाठक समाज है, समूह श्रोता नहीं। तब वह अपने पाठक को भी किसी न किसी रूप में विशिष्ट मानता है और उसे पूर्णतः अपना परकीय 'स्व' मानता हुआ ऐसा तादात्म्य स्थापित करता है कि पाठक और रचनाकार का 'स्व' एकाकार हो जाता है। वह अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को हमारे सामने लाता है। अर्थात् जो हमारा जाना-पहचाना है, देखा-सुना है उसे सदृश्य में ऐसा विधान करता है कि मैं जो दिखा रहा हूँ वह कुछ-कुछ ऐसा है और कई बार रचनाकार को लगता है कि कैसे और किन शब्दों में बताऊँ कि मैं क्या कुछ कहना चहता हूँ। उसे समाज स्वीकृत भाषा अपर्याप्त लगती है। उसे अपना कहा हुआ भी अपर्याप्त लगता है। अपर्याप्त को पर्याप्त करने के लिए वह विशिष्ट शब्द चयन करता है और दूसरी तरफ भाषा को बिल्कुल बतकही की सहजता के निकट भी रखने की उसकी आकांक्षा रहती है। तब समकालीन

www.ignited.in

निबंधकारों की भाषा के बारे में हम कह सकते हैं कि-"कहिबे को शोभा नहीं देख्या ही प्रमान।"

कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा-शैली अत्यन्त काव्यात्मक है जिसकी प्रवाहमयता देखते बनती है। निबंधों के अनुच्छेद संतुलित हैं। व्याकरणिक दृष्टि से शब्द, वाक्य और गठन औचित्यपूर्ण हैं। निजी भावों के प्रसार में भाषा आलंकारिक हो गई है। अलंकारों में रूपक और मानवीकरण इनके प्रिय अलंकार हैं। जहां एक ओर इनकी भाषा में पांडित्यपूर्ण शास्त्रीय पक्षों का प्राधान्य है वहीं लोक-जीवन से कम संपृक्त नहीं है। जिसके फलस्वरूप इनके निबंधों में लोकोक्तियों, कहावतों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

कुबेरनाथ राय ने भोजपुरी एवं आंचलिक शब्दों के साथ उर्दू, फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु शब्द चयन में संस्कृत के शब्द हावी हैं। श्री राय के अनुसार "शब्दों के पीछे संस्कार परंपरा है और यह संस्कार-परंपरा ही अभिव्यक्ति को व्यक्तित्व या विशिष्टता प्रदान करती है। हम 'पानी' न कहकर 'जल' कहते हैं तो अपनी अभिव्यक्ति को आदिम निषाद से जोड़ते हैं और 'नीर' कहते हैं तो आदिम द्रविड़ से। यह जोड़ना अखिल भारतीय दृष्टि से जरुरी है। हमारे संस्कारों में आर्य-द्रविड़-निषाद-किरात चारों की अवस्थिति है। हमारी मानसिकता में वैदिक-बौद्ध-वैष्णव संस्कारों की अवस्थिति है। हमारी भाषा की शब्दगत संस्कृति इन्हीं का महायोग है। दिक्कत यहाँ पर है कि हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी बौद्धिक-संस्कृति से जुड़े अन्य क्षेत्रों यथा भारतीय आयुर्वेद, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, प्राचीन नौकायन और व्यापार की शब्दावली से सर्वथा अपरिचित रहता है। दूसरी ओर लोहार, सोनार, बढ़ई, तन्तुवाय, माँझी और हलवाहे की तकनीकी शब्दावली से अपने शहरी परिवेश के कारण विच्छिन्न है। फलतः हिन्दी का 'महाकोश' जब अतीत में या वर्तमान के लोकस्तर में हाथ-पाँव फैलाता है, तो वह अजनबी जगत में चला जाता है।"[8]

श्री राय की भाषा शैली को शुद्ध नागर शैली कह सकते हैं। उनके शैली के संबंध में डॉ. हरिहरनाथ द्विवेदी कहते हैं कि "यों भी शैली कुछ ऐंठी हुई है और उस ऐंठन में प्रतीकों और रुपकों से अन्तर्निर्मित और एक प्रकार की नागरिक शोखी और शहरी नखरे की अदा है। राय जी बोली की ऐसी कारीगरी जानते हैं।"[9] संस्कृतनिष्ठ शब्दों का इनके निबंधों में बाहुल्य है। उदाहरण स्वरूप इनके एक निबंध के एक ही पृष्ठ में प्रयुक्त संस्कृत शब्दावली देखें-शीर्षवलक्ष, सिसृक्षा, जिजीविषा, सहस्त्रशीर्षा, अस्मिता, सरीसृप, अतिमा और जैविक आदि। केवल शब्द चयन ही नहीं अपितु वाक्य गठन भी संस्कृत के लहजे पर किया गया है। सर्वत्र माधुर्यगुण सम्पन्न संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है यथा-'वासंती पूर्णिमा को मैं महाश्वेता कहकर पुकारता हूँ और शरद पूर्णिमा को शुक्ला। मैं जानता हूँ कि शरद पूर्णिमा एक अनामा षोड्शी है। सरस्वती जैसे जिसका रूप है। लक्ष्मी जैसा जिसका हृदय है, पार्वती जैसा जिसका मन है फिर भी मानस में रमण करने वाली इस अमृता, अनामा, पारामिता वध को पहचानने के लिए एक नाम देना ही पड़ता है।"[10] संस्कृत के प्रायः अप्रचलित शब्दों यथा न्योग्रोध, परिमण्डला तथा गड्डरिक आदि के भी प्रयोग हुए हैं। सूक्तिपरक वाक्य भी उनके निबंधों में मिलते हैं जो सामाजिक संदर्भों को सम्यक् व्याख्यायित करते हैं। जैसे-"यह शिश्नजीवि प्रेम माँस की गठरी होने वाले कुछ कुत्ते की तरह हैं। यह पौरुष का अपमान है। यह मृत्यु की उपासना है।"[11]

आत्मीयता के लिए उन्होंने प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ-"अरे मुझे तो अफसोस है कि माता-पिता ने कुबेर की नाथ को नकेल क्यों पहनायी और कुबेरनाथ करके एक महाबड़भंगी दरिद्र और सनातन हिप्पी देवता का नाम दे डाला, जो अपने चढ़ने के लिए एक घोड़ा तक नहीं जुटा पाया, हाथी और विमान की तो बात ही क्या।"[12] इनकेउदाहरणों में, निबंधों में कथन वक्रता दिखायी देती है, जैसे-"कभी पढ़ा था कि व्याकरण भाषा का पुलिसमैन है। जब कोई शब्द वाक्य के भीतर कुमार्गगामी होता है तो उसकी आवारागर्दी को ठीक करने के लिए व्याकरण उस पर लाठी चार्ज करता है। अश्रु गैस छोड़ता है। गिरफ्तार करता है, जिससे व्याकरण का ठीक से पालन होता रहे।"[13]

भाषा विचारों की मात्र वाहक ही नहीं हुआ करती बल्कि सम्प्रेषणीयता की उद्भव शक्ति से संयत भी रहा करती है। कुबेरनाथ राय की भाषा अपनी सम्प्रेषण क्षमता के कारण ही महत्वपूर्ण एवं सार्थक स्वीकारी जाती है।

श्री राय का मानना है कि "यदि भाषिक-संस्कृति छिन्नमूल हो जाती है तो लेखन विश्वसनीय नहीं रह जाता। उसकी अपील बुद्धि का स्पर्श तो करती है, परन्तु हृदय में, मर्म में प्रवेश नहीं कर पाती। लेखक और पाठक के बीच, वक्ता और श्रोता के बीच एक आत्मिक स्तर पर संवाद बन नहीं पाता। 15 अगस्त 1947 को अपने संदेश में गाँधीजी ने कहा था-'दुनिया से कह दो कि गाँधी अंग्रेजी भूल गया।" तो वे अपनी सादी सरल भाषा में इसी तत्व की ओर इशारा कर रहे थे। कारण यह कि गाँधी का लक्ष्य आजीवन मात्र बुद्धि को प्रभावित करना नहीं था, वे हृदय में प्रवेश करके बोलते थे।"[14]

श्री राय के लेखन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा वह है जब वह आधुनिक बुद्धिजीवियों के बहाने अपने समय की रचनात्मक उपस्थिति और भाषिक प्रकृति को व्याख्यायित करते हैं। श्री राय तब थोड़ा कठोर होकर लिखते हैं कि-"आधुनिक

www.ignited.in

विश्वचिंतन भी अब 'वाद-प्ररतिवाद' की शैली छोड़ रहा है। मिश्रित अर्थव्यवस्था, जनतांत्रिक समाजवाद और वैज्ञानिक धर्मबोध जैसी विचारधाराओं का विकास इसी रचनात्मक सामंजस्य के रूप हैं। जब यह पश्चिमी समाज, परिश्चमी चिंतन और पश्चिमी साहित्य में स्वीकृत हो जायेगा तो भारतीय बुद्धिजीवी इनमें विश्वास करेगा। परन्तु भारतीय प्रज्ञा के आनुवांशिक उत्तराधिकार के रूप में उसकी बुद्धि इसे समझ पाने में असमर्थ है। वह भी औरों की तरह शवीं शती के द्वार पर आकर वैचारिक शून्य में किंकर्तव्यविमूढ़ है और उधार ली हुई शब्दावली के जप द्वारा सारी स्थिति से उबरने का स्वप्न देख रहा है परन्तु उसके उबरने की दो शर्तें हैं: पहली यह कि 19वीं शती के अर्धसत्यों और मुहावरों से मानसिक मुक्ति, दूसरी अपने अजनबीपन का दंभ त्याग कर देशी प्रज्ञा की जड़ों से अपने को जोड़ना, 'मूल-संश्लिष्ट' होना। तभी यह निजी शब्द, निजी मुहावरे, निजी मौलिकता को अर्जित कर सकेगा।"[15]

श्री राय की स्पष्ट मान्यता थी कि शवीं शती के द्वार पर खड़ा बुद्धिजीवी एक वैचारिक शून्य में अवरूद्ध हो गया। परन्तु श्री राय ऐसे लेखकों में नहीं थे इस वैचारिक शून्यता और अवरूद्धता को स्वीकार कर माथा पीटें, वह भारतीय बुद्धिजीवियों को अपने ढंग से रास्ता भी सुझाते हैं और वह रास्ता है-'देशी प्रज्ञा की जमीन पर खड़े होकर नई स्थितियों को सोचना-समझना'। भारतीयता के प्रति कुबेरनाथ राय की अटूट आस्था थी। भारतीय वाडमय की बहुत ही विश्वसनीय और प्रमाणिक व्याख्या कुबेरनाथ राय ने की है। भारतीय दर्शनशास्त्र और साहित्यशास्त्र में कला की अवधारणा को लेकर अलग-अलग अर्थसाक्ष्यों का प्रतिपादन किया जाता रहा है। 'चिन्मय भारत' में श्री राय ने भारतीय काल-चिन्तन की अवधारणा को बहुत वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया और लीनियल टाइम और सकुलर टाइम, काल-टकराव काल की सीधी गति का विवेचन करते हुए बताया, प्लेटो तथा लांगजाइनश की अनुभूतिपरक, वस्तुपरक तथा विश्वपरक एवं ब्रह्माण्डपरक काल की अवधारणा को भारतीय दृष्टि से व्याख्यायित करके एक नया सन्दर्भ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार भारतीय चिन्तन के त्रियक ब्रह्म, जीव और माया रूपी संसार के रहस्य को पूरे भारतीय चिंतन की अछूत प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की है, जो निश्चय ही भारतीय दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र के चिन्तकों की वृद्धि ही नहीं करेगी, वरन् उसको दिशा देने में भी समर्थ होगी।

श्री कुबरेनाथ राय ने अपने निबंधों में इस बात की चर्चा की है कि वे एक विशिष्ट क्षेत्र एवं संस्कृति की उपज हैं। अपनी माटी के प्रति उनकी यह सहृदयता कहीं बाहर से लादी गयी नहीं है, अपितु वह स्वतः स्फूर्त है। अपनी भूमि और संस्कृति के प्रति उनका यह लगाव उनके लेखन में सर्वत्र अनुस्यूत है और इस स्वाभाविक लगाव ने उनके लेखन को एक अछूत भाव-शक्ति प्रदान किया है। उनका लेखन किसी वाद से आबद्ध नहीं अपितु उनके लेखन का यह वैशिष्ट्य बहुत कुछ उनकी अपनी भूमि से आबद्धता के कारण ही है। सरलता और आजकल के अर्थ में मूर्खता से परिपूर्ण इस भोजपुरी क्षेत्र का जीवन अत्यन्त भावना-प्रधान है। विचार एवं तर्क का स्थान यहां गौण है। यहाँ का व्यक्ति जीवन्त है क्योंकि वह भावना-अनुभूति से ओतप्रोत है। वह बातों को समझता नहीं, अनुभव करता है। वह व्यक्ति से, जीव-जगत से, प्रकृति से भावनात्मक तादात्म्य रखता है। यह संतों की वृत्ति है, यह दर्शन की पराकाष्ठता है।

श्री राय के निबंधों में शोध-समाधान की भी बात बड़ी प्रांजलता से प्रस्फुट हुई है। भारत के सम्पूर्ण उत्तरवर्ती प्रदेशों में पहाड़ी लोगों का अपना अलग समुदाय है। वे कश्मीर से असम तक व्याप्त हैं। ये मंगोलियन मूल के माने गये हैं। संस्कृत की शब्दावली में ये किरात नाम से अभिहित हैं। इनकी श्रृंखला विन्ध्य श्रेणी-संथाल आदि में भी फेली है। श्री राय के दीर्घ असम प्रवास ने इन ऐतिहासिक बिन्दुओं को एकत्रित कर उसका एक तर्कसम्मत वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत कर अपने निबंधों के माध्यम से व्यक्त किया है। इन सभी सामग्रियों का आपके निबंधों में समन्वय हर तर्कसंगत रूप एकत्रित किया है। इस संस्कृति में कामरूप की देवी से लेकर उमा हैमवती तक को समाहित करने का आपने स्तुत्य प्रयास किया है।

श्री कुबेरनाथ राय ऋषि-परंपरा के साहित्यकार हैं, उस परंपरा के जो व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और रवीन्द्रनाथ से होते हुए तुलसीदास तक आती है। जब वे कहते हैं "मेरा जन्म तुलसीदास की भूमि पर हुआ है। उनके द्वारा दिए गए उत्तराधिकार का मैं भी भागीदार हूँ। इसका मुझे औसत से ज्यादा घमंड रहता है।"[16] उनके सम्पूर्ण साहित्य में मनीषी-धर्म का कहीं भी क्षरण नहीं होने पाया है। मनीषी साहित्यकार वह है, जिसकी दृष्टि शाश्वत और सनातन पर टिकी है, जो आस्था और जीवन के आन्तरिक धरातल को स्वस्थ और उध्वमुखी बनाने के निमित्त चिन्तन की उदात्त मनोभूमि में प्रवेश कर नये-नये सूत्रों और मूल्यों का संधान और प्रतिपादन करता है। जिसकी सृजनशीलता के केन्द्र में तप, अहिंसा, स्वाध्याय, सत्य, संयम जैसे उच्चमानवीय मूल्य प्रतिष्ठित हैं।

श्री राय ने श्रेष्ठ साहित्य की विशिष्टताओं एवं प्रयोजनों की भी जगह-जगह चर्चा की है। एक स्थान पर वे-"श्रेष्ठ साहित्य को धर्म की तरह 'चतुष्पाद' बताते हैं-श्रेष्ठ साहित्य वह है जिसके चारों पाये-विस्तार, गहराई, उदात्तता और रोचकता

www.ignited.in

(लालित्य) समान रूप से सबल हों क्योंकि धर्म पर नग्न शिव सवार होते हैं और साहित्य पर त्रिपुर सुन्दरी सवारी करती हैं।''[17] इस उद्धरण की सुगठित प्रवाहमय भाषा, सुरुचिसम्पन्न टटके बिम्ब एवं निर्णायक स्वर के बावजूद, श्री राय के साहित्यिक मानक-विस्तार, गहराई, उदात्तता और रोचकता, आधुनिक साहित्य के मूल्य नहीं हैं। आधुनिक साहित्य मूलतः गीतात्मक एवं अभिव्यक्तिपरक होता है। कथा साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। आज व्यक्ति का जीवन सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिघटनाओं का शिकार है, उनका नियंता नहीं।

श्री राय इससे विचलित नहीं हैं। यह सब समझकर ही वे साहित्य एवं जीवन में रामत्व-करुणा प्रेरित, शीलनद्ध पुरुषार्थ को पुनर्जागृत करना चाहते हैं, 'त्रेता का वृहत्साम' इस दिशा में उनका सर्वोत्तम प्रयास है। इसी कारण वे बार-बार राम-कथा और गांधी की तरफ लौटते हैं। उन्हें मनुष्यता की अपराजित नियति में अटूट विश्वास है। अपने एक निबंध 'अवरुद त्रेताः प्रतीक्षारत धनुष' में वे लिखते हैं-''हमारे अन्दर का त्रेता-भाव मरा नहीं है, जीवित है जो शक्ति का अतुल भण्डार है। आवश्यकता है योग्य नायक की जो खीझ और कुत्सा के स्थान पर उत्स, घृति, मति का स्थायी-संचारी बनाने का तरीका सामने लावे.....आवश्यकता है वसिष्ठ जैसे पुरोधा मंत्री की जो कह सके-'कहब वेदमत, लोकमत नृपनय निगम निचोड़' जो वेदमत, लोकमत, राजनीति और अध्यात्म का चतुर्भुजी संतुलन रख सके। आवश्यकता है विश्वामित्र जैसी परदर्शी ऋषि-प्रतिभा की जो पहचान सके किसके अन्दर त्रेता का तेज जल रहा है।''[18]

श्री राय के प्रतीक पुराने हैं, अतीताग्रह भी स्पष्ट है और सोच नायक केन्द्रित है जो आज के इतिहास-बोध से मेल नहीं खाता। आज इतिहास नायक है, व्यक्ति नहीं। परस्पर-विरोधी सामाजिक-राजनीतिक ताकतें नायक-खलनायक की भूमिका में हैं, जिसमें सतह पर सक्रिय दिखते नायक कठपुतलियाँ मात्र हैं। श्री राय इन परिप्रेक्ष्यों से बखूबी वाकिफ हैं और कभी-कभी उन्हें लगता है कि काल-बल के आगे व्यक्ति-बल की कोई विसात नहीं। वे पुरोहितावादी चिन्तन और 'यजमानी' व्यवस्था को भारतीय समाज का दुर्भाग्य बताते हैं। वे इतिहास को बूढ़ा देखना नहीं चाहते, और विश्वास है कि इतिहास और साहित्य में जो 'मृत अतीत' है वह पीछे छूट जाता है, मिट जाता है और जो 'सजीव अतीत' है वही अंततः एसर्ट कर पाता है-''समग्र दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि कला और संस्कृति के अतीतगत विविध मूल्य यथा मिथक, प्रतीक, कवि परंपराएं, कवि प्रसिद्धियाँ तथा जातिगत सामान्य प्रवृत्तियाँ संक्रमण बिन्दु पर आकर किंचित कुण्ठित अवश्य हो जाती हैं पर उसका सजीव अंश उस संक्रमण के व्यूह को काटकर वर्तमान और भविष्य के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है।''[19]

साहित्यकार लालित्य-पुरुष का रसोइयाँ है। अपनी रुचि, अपने बोध और अपनी कला-क्षमता के अनुसार वह चाहे जिस विद्या में व्यंजन तैयार करे, किन्तु इस अनंग देवता की पसन्द का ध्यान उसे रखना ही पड़ता है। यह देवता है बड़ा मायावी। यदि कोई अक्खड़ रसोइया बुद्धिवाद की दुहाई देकर इसकी ताबेदारी करने से इन्कार कर दे और लोहा-लक्कड़ गलाकर अभिनव व्यंजन तैयार करने पर उतारु हो जाये तो भी वह हार नहीं मानता और रस बनकर उसमें अनुप्रवेश कर जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य खासकर कविता में ऐसा कई बार घटित हो चुका है। 'सूखे काठ' की उपाधि पाने वाला निबंध भी इसके प्रसाद से कभी वंचित नहीं रहा। आखिर 'अज्ञेय' के निबंधों को पढ़ने पर भी 'रस' तो मिलता ही है। 'रस' अर्थात् 'लालित्य' बहुत दूर तो सहोदर भ्राता साहित्य में लालित्य की अवस्थिति अनिवार्य है-दूध में मलाई की तरह। लालित्य की मात्रा कम या अधिक हो सकती है, पर रहेगी अवश्य। ''परंपरित निबंध (भावात्मक, विचारात्मक आदि) कच्चा दूध होता है जिसमें मलाई ऊपर से नीचे तक ऐसे घुली-मिली होती है कि उसे अलग से पहचानना कठिन होता है। जब निबंधकार वैयक्तिकता की आँच देकर उस मलाई को सतह पर ला देता है तब ऐसे निबंध की संज्ञा हो जाती है 'ललित निबंध'।

कहा जाता है कि ललित निबंध के लिए कथ्य और शिल्प, दोनों का ललित होना आवश्यक है। कथन की ललित, अभिव्यक्ति-भंगिमा की ललित, कुबेरनाथ राय के आगमन से पहले प्रायः इसी तरह के ललित निबंध लिखे जाते थे। ऐसे निबंधों की एक बहुत बड़ी सीमा यह भी थी कि अपनी सीमा के भीतर ये भारतीय साहित्य की आर्य परंपरा और आधुनिक चिंतन के जटिल और पेचीदे विषयों को समाविष्ट कर पाने में असमर्थ थे। लालित्य के क्षरण का खतरा जो था। जब यह मान लिया गया था कि ललित निबंध के लिए कथ्य और शिल्प दोनों का ललित होना आवश्यक है। मात्र शैली-शिल्प के जोर से किसी निबंध को 'ललित' नहीं बनाया जा सकता। इस धारणा को तोड़ना एक चुनौती थी। इसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया श्री राय ने, ये कहते हुए-''ललित निबंध एक ऐसी विधा है जो एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है। एक ही साथ, आगे-पीछे के क्रम में नहीं। बिना अन्तर्निहित शास्त्र के काव्य रीढ़हीन केंचुआ जैसा लिजलिजा हो जाता है। यह शास्त्र बल ही है, जो काव्य की हड्डी रचता है, उसके अस्थि-पिंजर का निर्माण करता है, उसका मेरुदण्ड रचता है। 'श्रेष्ठ' एवं 'असल' (प्रामाणिक) काव्य में एड़ी से लेकर कपाल तक शास्त्र अन्तर्निहित रहता है परन्तु भीतर-भीतर। बाहर-बाहर जो दृश्यमान है वह तो मृसण गात कुसम कोमल शरीर है, खंजन नयन है।''[20] ललित निबंध एक 'लालित्य-बोध' या 'रसबोध'

पर आधारित होता है। भले ही यह रस 'नीमपाक' या 'करेला पाक' हो। 'राय' अर्थात् 'रमणीय' सदैव मधुर के अर्थ में ही नहीं गृहीत होता है। कोई जरूरी नहीं कि काव्य में भी सर्वदा मीठा-मीठा ही हो, ललित निबंध को अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष-भक्ति और स्वस्थ अट्हास, सब कुछ के प्रतिपादन का अधिकार है, उसे हर तरह की आकृति और हर किस्म की वचन-भंगिमा धारण कर लेने का अधिकार है।''[21]

निबंध में रचनाकार की स्वच्छन्दता को श्री राय ने उच्छृंखलता या कमजोरी न मानकर उसका मेरुदण्ड माना है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि निबंधकार विषय से इधर-उधर होकर भी केन्द्रिय विधा से जुड़ा होता है। इस रूप में निबंध को उन्होंने 'विषय के आस-पास शिव के सांड़ की भाँति मुक्त चरण और विचरण' बतलाया है। वे निबंध का उद्देश्य पाठकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार करना मानते हैं। यही कारण है कि उनके निबंधों में सन्दर्भ की बहुलता और विषयगत विविधता एवं विस्तार है। इस रूप में उन्होंने निबंध को बौद्धिकता की रसमय प्रस्तुति तथा स्वयं में सम्पूर्ण और स्वयं पूर्ण वाङ्मय बतलाया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. समकालीन हिन्दी निबंध-डॉ. कमला प्रसाद, पृ0 20-21, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ 1994
2. मराल, 'अपनी बात' कुबेरनाथ राय, पृ0-8, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1993
3. मराल, 'अपनी बात' कुबेरनाथ राय, पृ0-8, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1913
4. समकालीन हिन्दी निबंध-डॉ. कमला प्रसाद, पृ0 20-21
5. मराल, 'अपनी बात', पृ0-8
6. मराल, 'अपनी बात', कुबेरनाथ राय, पृ0-8
7. वही, पृ0-9
8. मराल, 'अपनी बात', कुबेरनाथ राय, पृ0-9
9. हिन्दी निबंध: सिद्धान्त और प्रयोग, हरिनाथ द्विवेदी, पृ0-181
10. गंधमादन, कुबेरनाथ राय, पृ0-86
11. प्रिया नीलकण्ठी, कुबेरनाथ राय, पृ0-160
12. गंधमादन, कुबेरनाथ राय, पृ0-15
13. वही, पृ0-5
14. निवेदिता, कुबेरनाथ राय, विशेषांक-मेरी सृष्टि: मेरी दृष्टि, पृ0-31
15. वही, पृ0-33-34
16. प्रिया नीलकण्ठी, 'मनियारा साँप', पृ0-44
17. गंधमादन, पृ0-317
18. प्रिया नीलकण्ठी, पृ0-68
19. विषाद योग, पृ0-158
20. दृष्टि अभिसार: भूमिका, पृ0-5-6
21. वही, पृ0-8

Corresponding Author

Dr. Sheena Prabhakaran*

Assistant Professor, Department of Hindi, St. Josephs College, Devagiri (Autonomous), Kozhikode, Kerala

www.ignited.in